प्राचीन जैन साहित्यमें

आयुर्वेद तथा भगवान् महावीर का गर्भापहरण

डा. जगदीशचन्द्र जैन

(**भूमिका :** स्व. डो. जगदीशचन्द्र जैन प्राकृत साहित्य के जाने-माने विद्वान् थे। उनका यह अप्रकाशित लेख डो. मधुसूदन ढांकीने भेजा है । चूंकि इस लेख में एक ऐसा विवादास्पद मुद्दा छेडा गया है कि जिसे छापने से सम्प्रदाय में विरोध हो सकता था, इसलिए पं. दलसुख मालवणिया समेत किसी विद्वान्ने इसे प्रकाशित नहीं किया था । लेकिन एक घटनाको लेकर बुद्धिमान् या विचारशील लोग क्या सोच व मान सकते हैं, उसकी जानकारी भी हमें मिलनी तो जरूर चाहिए । इसी आशय से यहां वह लेख यथावत् प्रकाशित किया जा रहा है । मैंने डॉ. ढांकी को कहा कि इसके प्रतिवाद के रूप में मैं मेरा यानी परम्परा का मन्तव्य भी लिखुंगा । उन्होंने प्रेमपूर्वक सहमती दर्शाई कि जरूर लिखें । अतः डॉ. जैन का लेख व उसका प्रतिवाद दोनों यहां प्रस्तुत है । - **शी.**)

आयुर्वेद का अर्थ है आयुको जानने वाला शास्त्र, अर्थात् जिस शास्त्र में आयु के सम्बन्ध में विचार किया जाता हो अथवा जिस शास्त्र के द्वारा दीर्घ आयुकी प्राप्ति होती हो, उसे आयुर्वेद कहते है (आयुरस्मिन् विद्यतेऽनेन वा आयुर्विन्दतीत्यायुर्वेदः) । इससे यही सिद्ध होता है कि प्राचीन भारत के आर्य जीवित रहने के लिए अत्यन्त उत्सुक थे । 'तू सौ शरद् ऋतुओ तक जीवित रह' (त्वं जीव शरदः शतम्) - ऋग्वेद का यह वाक्य, तथा दीर्घ जीवन की प्राप्ति के लिए किया जाने वाला आयुष्टोम यज्ञ इस कथन के साक्षी है ।

वेदों की संख्या चार है - ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद । इन चार वेदों के चार उपवेद हैं - ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद (व्यास के चरणव्यूह और शंकर के आयुर्वेद के मतानुसार; जबकि सुश्रुतसंहिता और हस्त्यायुर्वेद में उसे अथर्ववेद का उपवेद कहा है), यजुर्वेद का उपवेद धनुर्वेद, सामवेद का उपवेद गान्धर्ववेद और अथर्ववेद का उपवेद स्थापत्यशास्त्रवेद बताया गया है । सुश्रुतसंहिता के आयुर्वेदोत्पत्ति अध्याय में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आयुर्वेद के लिए केवल वेदका प्रयोग करते हुए उसे अनादि और शाश्वत कहा है । कहते हैं कि प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मदेव आयुर्वेद का प्ररूपण करते हैं । सृष्टि की उत्पत्ति के पूर्व उनके द्वारा १ हजार अध्यायों में १ लाख श्लोको में आयुर्वेद की रचना की हुई बतायी जाती है; तत्पश्चात् मनुष्यों की स्वल्प बुद्धि के अनुसार उन्हों ने इसे आठ भागों में विभक्त किया ।

यद्यपि आयुर्वेद को वेदका उपांग माना गया है, लेकिन इस शास्त्र के जीवनोपयोगी होने के कारण वेद की अपेक्षा भी इसका महत्त्व अधिक बताया गया है । सुश्रुत में कहा है कि वेदों का अध्ययन करने से तो केवल स्वर्ग की प्राप्ति आदि परलौकिक फल की ही उपलब्धि होती है, जबकि आयुर्वेद के अभ्यास से धन, मान आदि सांसारिक सुख, तथा व्याधि-पीड़ितों को जीवन-दान देने से स्वर्गप्राप्ति आदि का लाभ भी मिलता है । अष्टांगसंग्रह में इस सम्बन्ध में एक श्लोक है –

क्वचिद्धर्मः क्वचिन्मित्रं क्वचिदर्थः क्वचिद्यशः ।
कर्माभ्यासः क्वचिच्चेति चिकित्सा नास्ति निष्फला ॥

– शारीरिक चिकित्सा करने से कहीं धर्म की प्राप्ति होती है, कहीं मित्र की, कहीं धन की कहीं यश की और कहीं स्वकर्म का अभ्यास होता है, अतः चिकित्सा कभी निष्फल नहीं जाती ।

व्याधि से पीड़ित रोगियों के रोग को शान्त करना और स्वास्थ्य की रक्षा करना - यह आयुर्वेद का उद्देश्य है । आयुर्वेद के मुख्य दो सम्प्रदाय है- एक कायचिकित्सा और दूसरा शल्यचिकित्सा । दोनों सम्प्रदायों के आचार्यों ने अपने-अपने विषय के अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया, लेकिन दुर्भाग्य से इनमें से अधिकांश ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है । भगवान् धन्वन्तरि (धन्वं शल्यशास्त्रं तस्य अन्तं पारं इयर्ति गच्छतीति) से महर्षि सुश्रुतने शल्यप्रधान आयुर्वेद की शिक्षा प्राप्त कर सुश्रुतसंहिता की रचना की थी, शल्यचिकित्सा को आयुर्वेद का मुख्य अंग बताते हुए सुश्रुतसंहिता के सूत्रस्थान में देव और दानवों के युद्ध का उल्लेख किया गया है । कहते हैं कि देव और दानवों के युद्ध में परस्पर के प्रहार से जो योद्धा घायल हुए, उनके घावों की मरहम-पट्टी करने तथा यज्ञ के कटे हुए सिर का सन्धान करने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के कारण शल्यचिकित्सा को आयुर्वेद का मुख्य अंग मान लिया गया ।

जैनों की आयुर्वेद सम्बन्धी मान्यता

जैन ग्रन्थों में आयुर्वेद (चिकित्साशास्त्र) का महत्त्व प्रतिपादन किया गया है, लेकिन फिर भी आश्चर्य की बात है कि उसकी गणना पापश्रुतों में की है[१] । निशीथचूर्णी (१५, पृ. ५१२) में धन्वन्तरि का योगी (आगमोक्त विधि से क्रिया करने वाला; आगमानुसारेण जहुत्तं किरियं करेंतो जोगीव भवति) के रूप में उल्लेख करते हुए कहा है कि अपने विभंगज्ञान द्वारा रोगों का परिचय प्राप्त कर उसने वैद्यकशास्त्र का निर्माण [२]किया, और इस शास्त्र का अध्ययन करने वाले महावैद्य कहलाये ।

आयुर्वेद के आठ अंग :

सुश्रुत आदि ब्राह्मण ग्रन्थों की भांति जैनों के स्थानांग सूत्र (८, पृ. ४०४ अ) में आयुर्वेद के निम्नलिखित आठ अंगों का उल्लेख किया गया है- (१) कुमारभिच्च (कौमारभृत्य; बालकों के पोषण के लिए स्तनपान सम्बन्धी तथा अन्य रोगों की चिकित्सा), (२) सलाग (शालाक्य; कर्ण, मुख, नासिका आदि शरीर के ऊर्ध्वभाग के रोगों की चिकित्सा), (३) सल्लहत्थ (शाल्यहत्य; तृण, काष्ठ, पाषाण, रजःकण, लोहा, मिट्टी, अस्थि, नख आदि शल्यों का उद्धरण), (४) कायतिगिच्छा (कायचिकित्सा; शरीर सम्बन्धी ज्वर, अतिसार आदि रोगों की चिकित्सा), (५) जंगोली अथवा जंगोल (कौटिल्य अर्थशास्त्र में जांगलि; सर्प, कीट, लूता आदि तथा विविध प्रकार के मिश्रित विष की चिकित्सा । सुश्रुत में इसे अगदतन्त्र कहा है), (६) भूयविज्जा (भूतविद्या; देव, असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस आदि से पीड़ित चित्तवालों की शान्तिकर्म और, बलिदान आदि द्वारा चिकित्सा), (७) रसायण (रसायन;

---

१. उत्पात, निमित्त, मन्त्रशास्त्र, आख्यायिका, चिकित्सा, कलाएँ, आवरण (वास्तुविद्या), अज्ञान (महाभारत आदि-टीका), मिथ्याप्रवचन (बुद्धशासन आदि-टीका)- ये पापश्रुत हैं, स्थानांग ९.६७८ ।

२. सुश्रुत के अनुसार ब्रह्माने दक्षप्रजापति को, दक्षप्रजापतिने अश्विनीकुमारों को, अश्विनीकुमारोंने इन्द्र को, इन्द्रने धन्वन्तरिको और धन्वन्तरिने सुश्रुत को आयुर्वेद की शिक्षा दी ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तारुण्य की स्थापना तथा आयु और बुद्धि के बढ़ाने और रोग शान्त करने के लिए चिकित्सा), (८) वाजीकरण (अथवा खारतंत = क्षारतन्त्र; अल्पवीर्य, क्षीणवीर्य और शुष्कवीर्य पुरुषों में वीर्य की पुष्टि, वीर्य का उत्पादन और हर्ष उत्पन्न करने का उपाय)[१] ।

रोग और व्याधि

छेदसूत्रों के टीकाकारों ने रोग और व्याधि में अन्तर बताते हुए, अधिक समय तक रहने वाली अथवा बहुत समय में प्राणों का अपहरण करने वाली बीमारी को रोग, तथा प्राणों का शीघ्र अपहरण करने वाली बीमारी को व्याधि कहा है (निशीथभाष्य ११.३६४६-४७) । व्याधि को आतंक भी कहा गया है। सोलह प्रकार के रोग और सोलह प्रकार की व्याधियां बतायी गयी हैं।

आचारांग सूत्र (६.१.१७३ तथा टीका) में सोलह रोगों के नाम निम्न प्रकार हैं - (१) गंडी (गंडमाला; जिस में गर्दन फूल जाती है), (२) कुष्ठ (कोढ़),[२] (३) रायंसी (राज्यक्ष्मा = क्षय), (४) अवमारिय (अपस्मार), (५)

१. सुश्रुतसंहिता (१.१.७) में शल्यतन्त्र, शालाक्यतन्त्र, कायचिकित्सा, भूतविद्या, कौभारभृत्य, अगदतन्त्र, रसायनतन्त्र और वाजीकरणतन्त्र - इस क्रम से आठ अंग बताये हैं । इन में कायचिकित्सा और शल्यतन्त्र को छोड़कर अन्य अंगों के ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है । धन्वन्तरि के समय से ही कायचिकित्सा को छोड़कर अन्य सम्प्रदाय प्रायः विलुप्त हुए माने जाते हैं ।

२. कुष्ठ १८ प्रकार का होता है - ७ महाकुष्ठ और ११ क्षुद्रकुष्ठ । महाकुष्ठ (अंग्रेजी में लेप्रसी) को शरीर की समस्त धातुओं में प्रवेश करने के कारण असाध्य कहा है। महाकुष्ठ के सात भेद हैं- (१) अरुण (वात के कारण किंचित् रक्तवर्ण, क्षुद्र आकार का, फैलनेवाला, पीड़ा देनेवाला, फटनेवाला और स्पर्श की चेतना से शून्य), (२) औदुम्बर (पित्त के कारण पके गूलर के समान आकृति और वर्णवाला), (३) निश्य (यह पाठ अशुद्ध जान पड़ता है । सुश्रुत में इसे ऋष्यजिक कहा है, अर्थात् ऋष्य नामक हरिण की जीभ के समान खुरजरा), (४) कपाल (काले ठीकरे के समान प्रतीत होनेवाला), (५) काकनाद (सुश्रुत में काकणक; गुंजाफलके समान अत्यन्त रक्त और कृष्णवर्णवाला; काश्यपसंहिता (पृ. ८२) में काकणं), (६) पौण्डरीक (सुश्रुत में पुण्डरीक; कफ के कारण श्वेत कमलपत्र के समान वर्णवाला; काश्यपसंहिता में पौण्डरीक), (७) दद्रु (दाद; अतसी के पुष्प के समान नीलवर्ण अथवा ताम्रवर्णवाला, फैलनेवाला; इसमें छोटी-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

काणिय (अक्षिरोग), (६) झिमिय (जड़ता), (७) कुणिय (हीनांगत्व), (८) खुज्जिथ (कुबड़ापन), (९) उदररोग, (१०) मूय(गूंगापन), (११) सूणीय (शरीर की सूजन), (१२) गिलासणि (भस्मक), (१३) बेवइ (कंपन), (१४) पीढसप्पि (पंगुत्व), (१५) सिलीवय (श्लीपद = फीलपांव), और (१६) मधुमेह ।[१]

विपाकसूत्र में सोलह व्याधियों के नाम निम्नलिखित हैं – (१) श्वास, (२) कास (खांसी), (३) ज्वर, (४) दाह, (५) कुक्षिशूल, (६) भगंदर, (७) अर्श (बवासीर), (८) अजीर्ण, (९) दृष्टिशूल, (१०) मूर्धशूल, (११)

छोटी फुंसियां उठ आती हैं) ।

११ क्षुद्रकुष्ठों के नाम हैं – (१) स्थूलारुष्क (इसके कारण सन्धियों में अत्यन्त दारुण, स्थूल और कठिन गूमढ़े हो जाते हैं), (२) महाकुष्ठ (त्वचा में सिकुड़न और दरार पड़ जाती है और वह सुन्न हो जाती है), (३) एककुष्ठ (शरीर काला स्याह और लाल हो जाता है), (३) चर्मदल (जिस में हाथ-पैर के खाज,पीड़ा,जलन और सूजन हो जाय), (४) परिसर्प (जिसमें स्रवण करनेवाली फुंसियां शरीर में धीरे-धीरे फैलती हों), (५) विसर्प (जिसमें रक्त और मांस को दूषित कर, मूर्च्छा, जलन, अरति और पीड़ा उत्पन्न करके, त्वचा पककर शीघ्र ही चारों ओर फैल जाये), (६) सिध्म (इस में खाज आती है; यह श्वेत होता है, इस में कष्ट नहीं होता, यह क्षुद्र आकार का होता है, और प्रायः शरीर के ऊर्ध्व भाग में होता है), (७) विचर्चिका अथवा विपादिका (विचर्चिका में हाथों और पांवों में बहुत खाज आती है, पीड़ा होती है और रूखी-रूखी रेखाएं पड़ जाती है, यही जब पांवों में पहुंचकर खाज, जलन और वेदना पैदा कर देता है तो इसे विपादिका (बिवाई) कहा जाता है), (८) किटिम (यह बहता रहता है, गोलाकार और घन होता है; इस में बहुत खाज आती है, यह चिकना और कृष्णवर्ण का होता है), (९) पामा (यह बहता रहता है, इस में खाज और जलन होने से छोटी-छोटी फुंसियां हो जाती हैं । अंग्रेजी में एक्जीमा कहते हैं), (१०) कच्छू (जब पामा में अत्यन्त जलन होने लगती है तो इसे कच्छू कहते हैं), (११) शतारुक, (सुश्रुत में रकसा; जिस में खाज आती हो और फुंसियां न बहती हों; काश्यपसंहिता में शतारुष्क.) । तथा देखिए सुश्रुत, निदानस्थान अध्याय ५ ।

१. तथा देखिए विपाकसूत्र १, पृ. ७; निशीथभाष्य ११.३६४६; उत्तराध्ययनसूत्र १०.२७ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अरोचक (भोजन में अरुचि), (१२) अक्षिवेदना, (१३) कर्णवेदना, (१४) कण्डू (खुजली), (१५) जलोदर, (१६) कुष्ठ।[१] अन्य रोगों में दुब्भूय (दुर्भूत = ईति. टिड्डीदलका उपद्रव), कुलरोग, ग्रामरोग, नगररोग, मंडलरोग, शीर्षवेदना, ओष्ठवेदना, नखवेदना, दन्तवेदना, कच्छू, खसर (खसरा), पाण्डुरोग, एक-दो-तीन-चार दिन के अन्तराल से आनेवाला ज्वर, इन्द्रग्रह, धनुर्ग्रह (वायु के कारण शरीर का कुबडा हो जाना), स्कन्दग्रह, कुमारग्रह, यक्षग्रह, भूतग्रह, उद्वेग, हृदयशूल, उदरशूल, योनिशूल, महामारी, वल्गुली (जी मचलाना) और विषकुम्भ (फुड़िया) आदि का उल्लेख मिलता है[२] ।

रोगों की उत्पत्ति

वैद्यशास्त्र में वात, पित्त और कफ को समस्त रोगों का मूल कारण बताया गया है । स्थानांगसूत्र (९.६६७) में रोगोत्पत्ति के नौ कारण कहे हैं – (१) आवश्यकता से अधिक भोजन करना, (२) अहितकर भोजन करना, (३) आवश्यकता से अधिक सोना, (४) आवश्यकता से अधिक जागरण करना, (५) पुरीष का निरोध करना, (६) मूत्र का निरोध करना, (७) रास्ता चलना, (८) भोजन की प्रतिकूलता और (९) कामविकार । पुरीष के रोकने से मरण, मूत्र के रोकने से दृष्टि की हानि और वमन के रोकने से कोढ़ का होना बताया गया है । (बृहत्कल्पभाष्य ३.४३८०) ।

जैनश्रमणों को रोगजन्य संकट

जैन श्रमण संयम का पालन करने के लिए दृढतापूर्वक आहार विहार सम्बन्धी व्रत-नियमों का आचरण करते थे । जैसे गंगा के उलटे स्रोत को पार करना, समुद्र को भुजाओं से तिरना, बालू के ग्रास को भक्षण करना, असि की धार पर चलना, लोहे के चने चबाना, प्रज्वलित अग्नि की शिखा पकड़ना और मन्दार पर्वत को तराजू पर तोलना कठिन है, वैसे ही श्रमणधर्म के आचरण को महादुष्कर बताया है । फिर भी शरीर में उत्पन्न होनेवाली

१. निशीथभाष्य ११.३६४७ में निम्नलिखित आठ व्याधियां बतायी गयी है– ज्वर, श्वास, कास, दाह, अतिसार, भगंदर, शूल, अजीर्ण । तथा देखिए ज्ञातृधर्मकथा १३, पृ. १४४ (वैद्य संस्करण) ।

२. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति २४, पृ. १२०; जीवाभिगम ३, पृ. १५३; व्याख्याप्रज्ञप्ति ३.६ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याधियों को कैसे रोका जा सकता था ? सामान्यतया व्याधिग्रस्त हो जाने पर जैन साधु को चिकित्सा कराने और औषधि-सेवन करने का निषेध है, और जैसे भी हो सर्वत्र संयम की प्रतिष्ठा का ही उपदेश दिया गया है। लेकिन कितने ही प्रसंग ऐसे उपस्थित होते, जबकि संयम की अपेक्षा अपनी रक्षा करना अधिक आवश्यक हो जाता (सव्वत्थ संजमं संजमाओ अप्पाणमेव रक्खंतो-निशीथचूर्णी, पीठिका ४५१)। बृहत्कल्पभाष्य की वृत्ति (१.२९००) में कहा है-

शरीरं धर्मसंयुक्तं रक्षणीयं प्रयत्नतः ।
शरीराच्छ्रवते धर्मः पर्वतात् सलिलं यथा ॥

- जैसे पर्वत से जल प्रवाहित होता है, वैसे ही शरीर से धर्म प्रवाहित होता है, अत एव धर्मयुक्त शरीर की यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए।

व्याधियों का उपचार

कहना न होगा कि किसी असाधारण रोग या व्याधि से पीड़ित होने पर साधुओं को चिकित्सा कराने के लिए बाध्य होना पड़ता था। उदाहरण के लिए, कोढ़ हो जाने पर जैन श्रमणों को दारुण कष्ट का सामना करना पड़ता। यदि उन्हें गला हुआ कोढ़ हो जाता, उनके खुजली (कच्छू) हो जाती, उनके कोढ़ में खाज (किटिभ) आने लगती, या जूंए पैदा हो जाती तो उन्हें निर्लोम चर्म पर लिटाया जाता (बृहत्कल्पभाष्य ३.३८३९-४०)। यदि वे एक्ज़ीमा(पामा) से पीड़ित रहते तो उसे शान्त करने के लिए मेढ़े की पुरीष और गोमूत्र काम में लिया जाता (ओघनिर्युक्ति ३६८, पृ. १३४-अ)। यदि उनके कोढ़ में कीड़े (कृमिकुष्ठ) पड़ जाते तो उन्हें और भी भयंकर कष्ट होता। एक बार किसी साधु के कृमिकुष्ठ द्वारा पीड़ित होने पर वैद्यने तेल, कम्बलरत्न और गोशीर्ष चन्दन (एकप्रकार का सफेद चन्दन) का उपचार बताया। लेकिन ये तीनों वस्तुएं मिलें कहां से ? अन्त में किसी वणिक् ने बिना मोल के ही कम्बल और चन्दन दे दिये। साधु के शरीर में

---

१. अन्य तेलों में शतपाकतेल, हंसतेल, मरुतेल और कल्याणघृतका उल्लेख मिलता है, जगदीशचन्द्र जैन, ''जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज'', पृ. ३१६; अंगविज्जा, अध्याय ५०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शतसहस्त्रतेल[१] (शतसहस्त्र औषधियों को पकाकर बनाया हुआ तेल) की मालिश की गयी जिससे तेल रोम-कूपों में भर गया। परिणाम यह हुआ कि कुष्ठ के कृमि संक्षुब्ध होकर झड़ने लगे। ऊपर से साधु को कम्बल उढ़ा दिया गया जिससे सब कृमि कम्बल पर लग गये। बाद में गोशीर्षचन्दन का लेप करने से रोगी का कोढ़ शान्त हो गया।[१]

सर्पदंष्ट भी इसी प्रकार की घातक बीमारी समझी जाती थी। उन दिनों सर्पों का बहुत उपद्रव था, इसलिए यदि कभी किसी साधु को सर्प काट लेता, उसे हैजा (विसूचिका) हो जाता या वह ज्वर से पीड़ित होता तो उसके लिए साध्वीके मूत्रपान का विधान है।[२] सर्पदंश पर मन्त्र पढ़कर अष्टधातु के बने हुए बाले (कटक) बांध दिये जाते या मुंह में मिट्टी भरकर सर्प के डंक को चूस लिया जाता, या दंश के चारों ओर मिट्टी का लेप कर देते, नहीं तो रोगी को मिट्टी का भक्षण कराया जाता जिससे कि खाली पेट में विष का असर न हो।[३] कभी सर्प से दष्ट स्थानको आगसे दाग देते, या उस स्थान को काट देते, या रोगी को रातभर जगाये रखते।[४] बमी की मिट्टी, लवण और सेचन आदि को भी सर्पदंश में उपयोगी बताया गया है।[५] सर्प का जहर शान्त करने के लिए रोगी को सुवर्ण घिसकर भी पिलाया जाता था।[६]

भूत आदि द्वारा क्षिप्तचित्त हो जाने के कारण साधुओं की चिकित्सा करने में बड़ी कठिनाई होती थी। ऐसी अवस्था में उन्हें कोमल बन्धनसे बांधकर रक्खा जाता, और कितनी ही बार स्थान के अभाव में उन्हें कुएं

---

१. आवश्यकचूर्णी, पृ. १३३।

२. विनयपिटकके भैषज्यस्कन्ध में यह विधान है। तथा औषधि के रूप में मूत्रग्रहण के लिए देखिए सुश्रुत, सूत्रस्थान ४५.२१७-२२९।

३. निशीथभाष्य पीठिका १७०। सर्पदंश की चिकित्सा के लिए देखिए महावग्ग ६.२.९, पृ. २२४ (भिक्षु जगदीश काश्यपका संस्करण)।

४. निशीथभाष्य पीठिका २३०. ५. वही ३९४।

६. व्यवहारभाष्य ५.८९। ७. वही २.१२२-२५।

८. बृहत्कल्पभाष्य ६.६२६२; तथा चरकसंहिता, शरीरस्थान २, अध्याय ९, पृ. १०८८ (भास्कर गोविंद घाणेकर का संस्करण)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के अन्दर रखवा दिया जाता ।[७] साध्वी के यक्षाविष्ट हो जाने पर भूतचिकित्सा का विधान किया गया है ।[८] यदि किसी साध्वी को ऊर्ध्ववात चलता हो, बवासीर हो गयी हो, शूल उठा करता हो, उसके हाथ-पांव अपने स्थान से चल गये हों, शरीर के किसी एक अथवा सर्व अंग में वात उत्पन्न हुआ हो तो उसे अभ्यंगित करके निर्लोम चर्म में रखने का विधान है । इसी प्रकार यदि उसे हड़काया कुत्ता काट ले तो चर्म से वेष्टित करके उसे व्याघ्र के चर्म में सुलाने का आदेश है ।[१]

वैद्यकशास्त्र के पण्डित

निशीथचूर्णी (४.१९५७) में वैद्यकशास्त्र के पण्डितों को दृष्टपाठी[२] कहा गया है । जैन ग्रन्थों में अनेक वैद्य (शास्त्र और चिकित्सा दोनों में कुशल), वैद्यपुत्र, ज्ञायक(केवल शास्त्र में कुशल), ज्ञायकपुत्र, चिकित्सक (केवल चिकित्सामें कुशल) और चिकित्सकपुत्रों का उल्लेख मिलता है ।[३] वैद्य-लोग अपने शस्त्रकोश[४] लेकर घर से निकलते तथा रोग का निदान जानकर अभ्यंग, उबटन, स्नेहपान, वमन, विरेचन, बस्तिकर्म, शिरावेध, शिरोबस्ति, पुटपाक, छाल, वल्ली, मूल, कन्द, पत्र, पुष्प, गुटिका, औषध और भैषज्य आदि द्वारा राजा, ईश्वर, सार्थवाह, अनाथ, श्रमण, ब्राह्मण, भिक्षुक आदि की चिकित्सा करते थे ।[५] चिकित्साशालाओं (अस्पताल) का उल्लेख मिलता है जहां वेतन पानेवाले अनेक वैद्य काम करते थे ।[६]

---

१. बृहत्कल्पभाष्य ३.३८१५-१७ । चर्म के उपयोग के लिए देखिए - सुश्रुत, सूत्रस्थान ७-४, पृ. ४२ ।

२. ओघनिर्युक्तिभाष्य की टीका (पृ. ४१-अ) में चरक-सुश्रुत आदि के पण्डित को दृष्टपाठी कहा है ।

३. सुश्रुत (१.४.४७-५०) में केवल शास्त्र में कुशल, केवल चिकित्सा में कुशल तथा शास्त्र और चिकित्सा दोनों में कुशल वैद्यों का उल्लेख है ।

४. निशीथचूर्णी (११.३४३६) में प्रतक्षण शस्त्र (सर्पदंष्टके समय ऊपर से थोडी-सी त्वचा काटने के लिए), अंगुलीशस्त्र (नखभंग की रक्षार्थ), शिरावेधशस्त्र (नाड़ी बेधकर रक्त निकालने के लिए), कल्पनशस्त्र, लोहकंटिका, संड़सी, अनुवेधशलाका, व्रीहिमुख और सूचीमुख नामक शस्त्रों का उल्लेख किया गया है।

५. विपाकसूत्र ७, पृ. ४१ । ६. ज्ञातृधर्मकथा १३, पृ. १४३ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वैद्य लोग चीरफाड़ भी करते थे। जैनसूत्रों में दो प्रकार के व्रण[१] बताये गये हैं – तद्भव और आगन्तुक। कुष्ठ, किटिभ, दद्रु, विचर्चिका, पामा और गंडालिया (पेट के कृमि)– ये तद्भव व्रण हैं, तथा जो व्रण खड्ग, कण्टक, ठूंठ, शिरावेध, सर्प अथवा कुत्ते के काटने से पैदा हो उसे आगन्तुक व्रण कहा गया है।[२] वैद्य व्रणों को पानी से धोकर उन पर तेल, घी, चर्बी और मक्खन आदि चुपड़ते और गाय, भैंस आदि का गोबर लगाते।[३] गण्डमाला, अर्श और भगन्दर आदि रोगों पर शस्त्रक्रिया की जाती थी।[४]

इसके सिवाय, वैद्यलोग युद्ध आदि में घाव लग जाने पर मरहम-पट्टी करते थे। युद्ध के समय वे औषध, व्रणपट्ट, मालिश का सामान, व्रणसंरोहक तेल, व्रणसंरोहक चूर्ण, बहुत पुराना घी आदि साथमें लेकर युद्धस्थल पर पहुंचते और आवश्यकता पड़ने पर घावों को सीते।[५]

जैन साधुओं की चिकित्सा

व्याधि से ग्रस्त होने पर जैन साधुओं को अपनी चिकित्सा के लिए दूसरों पर अवलम्बित रहना पड़ता था। यदि कोई साधु चिकित्सा में कुशल हुआ तो ठीक, नहीं तो रोगी को कुशल वैद्य को दिखाना पड़ता था। ऐसी हालत में यदि ग्लान साधु को वैद्य के घर ले जाना पड़ता और मार्गजन्य आतापना आदि के कारण उसका प्राणान्त हो जाता तो वैद्य रोगी को वहां लाने वाले साधुओं को आक्रोशपूर्ण वचन कहता। ऐसी हालत में सगुन विचार कर ही वैद्य के घर रोगी को ले जाने या उसे बुलाकर लाने का आदेश है। यदि वैद्य एक धोती पहने हो, तेल की मालिश करा रहा हो, उबटन लगवा रहा हो, राख के ढेर या कूड़ी के पास खड़ा हो, चीर-फाड़ कर रहा हो, घट या तुम्बीको फाड़ रहा हो या वह शिराभेद कर रहा हो तो उस समय

---

१. वृणोति यस्मात् रूढेऽपि, व्रणवस्तु न नश्यति।
आदेहधारणात्तस्माद्, व्रण इत्युच्यते बुधैः॥ – सुश्रुत, सूत्रस्थान २१.३९।

२. निशीथभाष्य ३.१५०१।

३. निशीथसूत्र ३.२२-२४; १२.३२; निशीथभाष्य १२.४१९९।

४. निशीथसूत्र ३.३४।

५. व्यवहारभाष्य ५.१००-१०३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसके कुछ नहीं पूछना चाहिए ।[१] कितने ही प्रसंग ऐसे उपस्थित होते जब रोगी के अत्यधिक रुग्ण होने पर वैद्य को साधुओं के उपाश्रय में बुलाकर लाया जाता । उस समय आचार्य स्वयं उठकर वैद्य को रोगी को दिखाते और आवश्यकता होने पर साधुओं को उसके स्नान, शयन, वस्त्र, भोजन तथा दक्षिणा आदि की व्यवस्था करनी पड़ती ।[२]

हरिणेगमेषी द्वारा महावीर के गर्भ का अपहरण

जैन सूत्रों में हरिणेगमेषी को इन्द्र की सेना के सेनापति (पायत्ताणीयाहिवइ) के रूप में चित्रित किया है ।[३] कहते हैं कि इन्द्र के आदेश से हरिणेगमेषीने अवस्वापिनी विद्या के बल से ब्राह्मणकुण्डग्राम की देवदत्ता (देवानन्दा) नामक ब्राह्मणी के गर्भ में अवतरित महावीर का अपहरण करके उन्हें क्षत्रियकुण्डग्राम की त्रिशला क्षत्रियाणी के गर्भ में अवतरित कर दिया । गर्भहरण की इस घटना का संक्षिप्त निर्देश आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में है । तथा विशेष वर्णन व्याख्याप्रज्ञप्ति (५.३) में उपलब्ध होता है ।[४]

महावीर के गर्भहरण की घटना यद्यपि आचारांग और व्याख्याप्रज्ञप्ति जैसे प्राचीन सूत्र में मिलती है, फिर भी लगता है कि यह घटना पूरी तौरसे लोगों के मनमें आस्था न पैदा कर सकी । स्थानांग (१०) सूत्र में गर्भहरण

---

१. तुलना कीजिए सुश्रुत, सूत्रस्थान २९, अध्याय के साथ । यहाँ वैद्य के पास जाने वाले दूत का दर्शन, सम्भाषण, वेष, चेष्टा, तथा नक्षत्र, वेला, तिथि, निमित्त, शकुन, वायु, वैद्य का देश तथा उसकी शारीरिक, मानसिक और वाचिक चेष्टाओं का प्रतिपादन किया गया है ।

२. बृहत्कल्पभाष्य १.१९१०-२०१३; व्यवहारभाष्य ५.८९-९०; निशीथसूत्र १०.३६-३९; भाष्य २९६६-३१२२ ।

३. कल्पसूत्र २.२६ । विद्या और मन्त्र में अन्तर बताते हुए विद्या को स्त्री-देवता और मन्त्र को हरिणेगमेषी आदि पुरुष-देवताओं द्वारा अधिष्ठित कहा गया है, बृहत्कल्पभाष्य १.१२३५ ।

४. अंतगडसूत्र (३, पृ. १२) में हरिणेगमेषीका उल्लेख भद्दिलपुर के नागगृहपति की पत्नी सुलसा और कृष्ण की माता देवकी का परस्पर गर्भ-परिवर्तन करनेवाले के रूप में आया है । आगे चलकर कृष्णने हरिणेगमेषीकी उपासना द्वारा अपने लघु भ्राता के रूप में गजसुकुमालको प्राप्त किया ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की घटना का दस आश्चर्यों में गिना जाना क्या इस तथ्य की ओर इंगित नहीं करता ?

तीर्थंकर नीच कुलों में जन्म नहीं लेते

गर्भहरण की घटना सम्भवत: जब सर्वसाधारण के बुद्धिग्राह्य न हुई तो एक और कल्पना की गयी । इस बात की घोषणा की गई कि अरहन्त, चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव कभी तुच्छ, दरिद्र, कृपण, भिक्षु और ब्राह्मण कुलों में जन्म धारण नहीं करते ।[१] अवश्य ही यह कल्पना पहले की अपेक्षा कुछ अधिक बुद्धिसंगत जान पड़ती थी, लेकिन फिर भी गर्भहरण की गुत्थी ज्यों-की-त्यों बनी रही ।

गर्भ-संक्रमण की अन्य सम्भावनाएं

'गर्भ-संक्रमण जैसे अशक्य कार्य को देवके हस्तक्षेप द्वारा शक्य बनाने की कल्पना को शास्त्र में क्यों स्थान दिया गया ?' इसकी ऊहापोह करते हुए सुप्रसिद्ध विद्वान् पण्डित सुखलालजी संघवीने इस प्रश्नका समाधान दो रूप में प्रस्तुत किया है- (१) त्रिशला सिद्धार्थ की अन्यतम पत्नी रही होगी जिसका अपना कोई औरस पुत्र नहीं था । स्त्री-सुलभ पुत्रवासना की पूर्ति के लिए उसने देवानन्दा के पुत्र को अपना पुत्र बनाकर रखा होगा, (२) महावीर यद्यपि बाल्य अवस्था से हिंसक यज्ञ और क्रियाकाण्ड-प्रधान ब्राह्मण परम्परा में पले थे, लेकिन किसी निर्ग्रन्थ भिक्षु के सम्पर्क में आने के कारण उनकी त्यागवृत्ति बलवती हो उठी होगी (चार तीर्थंकर पृ. ११०-११) ।

कहने की आवश्यकता नहीं कि यह स्पष्टीकरण सन्तोषजनक नहीं लगता ।

डाक्टर ए. के. कुमारस्वामीने अपनी 'स्पिरिच्युअल ऑथोरिटी एण्ड टैम्पोरेल पावर' (पृ. ३२ का २४ वां फुटनोट) नामक पुस्तक में इस विषय की भिन्न प्रकार से ही समीक्षा की है । उनका मत है कि ऋग्वेद में उल्लिखित यम और यमीको भाई-बहन न समझकर उन्हें आकाश और पृथ्वी अथवा दिन

---

१. कल्पसूत्र २.२२; आवश्यकचूर्णी, पृ. २३९ । बौद्धों की निदानकथा १, पृ. ६५ में कहा है कि बुद्ध क्षत्रिय अथवा ब्राह्मण नाम की ऊंची जातियों में ही जन्म लेते हैं, नीची जातियों में नहीं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और रात्रि का ही प्रतीक समझना चाहिए। इसी तरह डॉक्टर साहब का कथन है कि सौरमण्डल के जिन वीर पुरुषों का जन्म द्विमाताओं से स्वीकार किया गया है, उनके जन्म को वास्तव में दिव्य-मानव-जन्म समझना चाहिए, जिसकी भविष्यवाणी पहलेसे ही अनेक रूप में की जा चुकी होती है। लेखक ने यहां हैरेक्लीज़, अग्नि, बुद्ध, महावीर और ईसामसीह के उदाहरण प्रस्तुत कर अपने कथन का समर्थन किया है।

गर्भ-संक्रमण का यह स्पष्टीकरण आध्यात्मिक ही अधिक है, यथार्थता का अंश इस में भी नहीं है।

नैगमेषापहृत-एक रोग

यह ठीक-ठीक कहना कठिन है कि हरिणेगमेषी द्वारा महावीर का गर्भ अपहृत किये जाने की कल्पना जैन सूत्रों में कब से रूढ हो गयी, लेकिन वैद्यकशास्त्र से पता चलता है कि **नैगमेषापहृत** एक प्रकार का लीन गर्भ है जिसे उपशुष्कक अथवा नागोदर भी कहा गया है। कभी स्रोतों के, वात-उपद्रव से पीड़ित होने के कारण गर्भ सूख जाता है, माता की कुक्षि में वह पूर्णतया व्याप्त नहीं होता और उसकी हलचल मन्द पड़ जाती है। इससे कुक्षि की जितनी वृद्धि होनी चाहिए उतनी नहीं हो पाती। इस गर्भ के कदाचित् अचानक शान्त हो जाने पर इसे नैगमेषापहृत कहा गया है। वस्तुतः वातविकृति का ही यह परिणाम है, लेकिन भूत-पिशाच में विश्वास करने वाले इसे नैगमेषापहृत कहने लगे। गर्भ के सूख जाने के कारण इसे उपशुष्कक, और कदाचित् शनैः-शनैः लीन हो जाने के कारण इसे नागोदर कहा है। इस रोग के निवारण के लिए स्त्री की मृदु स्नेह आदि से चिकित्सा करने का विधान है (देखिए, सुश्रुत, शारीरस्थान, १०६१)।

अतएव प्रस्तुत प्रसंग में हरिणेगमेषी द्वारा गर्भ अपहृत किये जाने का यही अर्थ युक्तियुक्त प्रतीत होता है कि नैगमेषापहृत रोग से ग्रस्त होने के कारण देवानन्दा ब्राह्मणी का गर्भ अचानक शान्त हो गया, और गर्भावस्था को प्राप्त त्रिशला क्षत्रियाणीने नौ महीने पश्चात् सन्तान को प्रसव किया। इस समय से देवानन्दा के गर्भहरण की किंवदन्ती लोक में प्रसिद्ध हो गयी और बाद में चलकर इस किंवदन्ती को बुद्धिसंगत बनाने के लिए इसके साथ ब्राह्मणों की अपेक्षा क्षत्रिय जाति की श्रेष्ठता की मान्यता जोड़ दी गयी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org